तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक ४ : अगस्त १९८१

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस

कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

PRAKASH TRADING COMPANY

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram: PEARLMOON

Telephone: 22-4110
22-3323

THE BIKANER WOOLLEN MILLS

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS
Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष ५ : अंक ४

अगस्त १९८१

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी - २५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७००००७

सूची

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०१

अन्निकापुत्र १०४

ब्राह्मण और जैन संस्कृति ११०

चित्तोड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ ११४

जैन दर्शन में कर्मवाद ११७

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या १२८

जहाँ उन्हें फेंका वहाँ एक दुष्ट देवता हाथ में त्रिशूल लिए खड़ा था।
वह त्रिशूल अग्निकापुत्र की देह को आरपार कर गया। पृ० १०८

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

(१) जो सबके पूज्य हैं, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के लिए निवास रूप हैं, जो स्वर्ग मृत्यु पाताल के ईश्वर हैं उन्हीं अरिहंत देव का मैं ध्यान धरता हूँ।

(२) जो सब क्षेत्रों में सब कालों में (भूत, भविष्य, वर्तमान) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से तीनों लोकों को पवित्र करते हैं उन्हीं अरिहंत देव की मैं उपासना करता हूँ।

(३) जो पृथ्वीपतियों के मध्य प्रथम हैं, जो त्यागव्रतियों में भी प्रथम हैं और प्रथम तीर्थंकर हैं उन ऋषभदेव भगवान की मैं स्तुति करता हूँ।

(४) विश्वरूप कमल सरोवर में जो मार्तण्ड रूप हैं, जिनके निर्मल केवल ज्ञान रूपी दर्पण में त्रिलोक प्रतिबिम्बित होता है उन अर्हंत अजितनाथ की मैं स्तुति करता हूँ।

(५) भव्यजीव रूपी उद्यान को सिंचित करने के लिए जगत्पति श्री सम्भवनाथ के मुखनिःसृत जलधारा रूपी जो वाणी है वह वाणी सर्वदा यशस्वी हो।

(६) अनेकान्त रूपी समुद्र को उल्लसित करने में जो चन्द्र तुल्य हैं वे भगवान अभिनन्दन स्वामी आनन्ददायी बनें।

(७) देवगणों के मुकुट मणियों की प्रभा में प्रदीप्त जिनके चरण नख हैं वे भगवान सुमतिनाथ तुम्हारी इच्छा पूर्ण करें।

(८) काम क्रोधादि रूपी अन्तरंग वैरियों के मन्थन हेतु कोप प्रबलता के कारण जिनके शरीर ने अरुण वर्ण धारण किया है वे पद्मप्रभ तुम्हारा कल्याण करें।

(९) चतुर्विध संघरूप आकाश में जो सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं, जिनके चरण इन्द्र द्वारा पूजित हैं उन सुपार्श्वनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ।

(१०) चन्द्र कौमुदी की भाँति उज्ज्वल चन्द्रप्रभ भगवान की जो मूर्त्ति है उसे देखने से लगता है जैसे शुक्ल ध्यान ही मूर्त्तिमंत हो उठा है, वह मूर्त्ति तुम्हारे ज्ञान-लाभ का कारण बनें।

(११) जो केवलज्ञान के प्रभाव से जगत को करामलकवत जानते है और जो अचिन्तनीय प्रभाव के आधार हैं वे सुविधिनाथ तुम्हें बोध प्रदान करें।

(१२) प्राणी मात्र में आनन्द अंकुर विकसित करने में जो नवीन जलद तुल्य हैं, जो स्याद्‌वाद रूपी अमृत का वर्षण करते हैं वे शीतलनाथ तुम्हारी रक्षा करें।

(१३) जिनका दर्शन संसार रूपी रोगों से पीड़ित लोगों के लिए वैद्य की भाँति है, जो निःश्रेयस रूप से मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पति है वे श्रेयांसनाथ तुम्हारे कल्याण का कारण बनें।

(१४) जो समस्त विश्वके कल्याणकारी हैं, जिन्होंने तीर्थंकर रूप नामकर्म प्राप्त किया है और जो सुरासुर नर पूजित हैं वे वासुपूज्य तुम्हारी रक्षा करें।

(१५) निर्मांल्य चूर्ण की भाँति जगत जन के चित्त रूपी वारि को जो निर्मल करते हैं उन्हीं विमलनाथ की वाणी जययुक्त हो।

(१६) जिनका करुणा रूप वारि स्वयंभूरमण नामक समुद्र जल का प्रतिस्पर्द्धी है वे अनन्तनाथ असीम मोक्ष रूपी लक्ष्मी तुम्हें प्रदान करें।

(१७) शरीरधारी जीवों के लिए कल्पवृक्ष की भाँति जो अभिप्सित वस्तु प्रदान करते हैं और दान, शील, तप, भाव रूप धर्म के उपदेशक हैं उन धर्मनाथ स्वामी की हम उपासना करते हैं।

(१८) जिनकी वाणी रूपी चन्द्रिका समस्त दिक्‌समूह को निर्मल करती है, जिनका लांछन मृग है वे शान्तिनाथ अज्ञानरूप अन्धकार को शान्त कर तुम्हें शान्ति प्रदान करें।

(१९) जो अतिशय रूप ऋद्धि सम्पन्न हैं सुरासुरनर के अद्वितीय स्वामी हैं वे कुन्थुनाथ तुम्हारे कल्याणरूप लक्ष्मी-प्राप्ति का कारण बनें।

(२०) कालचक्र के चतुर्थ आरा रूप आकाश में जो मार्तण्ड रूप हैं वे भगवान अरनाथ तुम्हें चतुर्थ पुरुषार्थ रूप (मोक्ष) लक्ष्मी सहित विलास की अभिवृद्धि करें।

(२१) नवीन मेघ के उदय से जिस प्रकार मयूर आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार जिन्हें देखने मात्र से सुर-असुर-नरपालों के चित्त आनन्दित

हो जाते हैं और जो कर्मरूपी अटवी के उत्खात में मत्त हाथी की भाँति है उन मल्लीनाथ की मैं स्तवन करता हूँ।

(२२) जिनकी वाणी मोह निद्रा प्रसुप्त प्राणियों के लिए प्रभाती रूप है उन मुनिसुव्रत स्वामी की मैं स्तवन करता हूँ।

(२३) प्रणाम करते समय जिनके चरणों की नखप्रभा निखिल जनों के मस्तक पर पड़ती है और जो जलधारा की भाँति उनके हृदय को निर्मल करती है उन नमिनाथ भगवान के चरणों की नखप्रभा तुम्हारी रक्षा करे।

(२४) यदुवंश रूपी समुद्र के लिए जो चन्द्रमा रूप हैं और कर्मरूप अरण्य के लिए हुतासन स्वरूप हैं वे अरिष्टनेमि भगवान तुम्हारे अरिष्ट या दुःखों को दूर करें।

(२५) कमठ और धरणेन्द्र दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं किन्तु, दोनों के ही प्रति जिनका मनोभाव एक रूप है वे पार्श्वनाथ भगवान तुम्हारा कल्याण करें।

(२६) जिनके नयन ताराओं में कृतापराधी के प्रति भी दयाभाव प्रस्फुटित है और इसी कारण जिनके नयन पल्लव ईषत् वाष्पार्द्र हैं उन्हीं भगवान महावीर के नयन कल्याणवर्षी बनें। [क्रमशः

अन्निकापुत्र

[जैन कथानक]

(पूर्वानुवृत्ति)

अन्निका उस समय उस कक्ष में ही थी। पति को क्रन्दन करते देख वह उनके पास आकर खड़ी हो गयी। अपने उत्तरीय से उनके अश्रुओं को पोंछते-पोंछते बोली—"प्रिय! आपके इस दुःख का क्या कारण है? और यह पत्र किसका है? आप मुझे भी बताइए ताकि मैं आपके दुःख की समभागी बन सकूँ।"

फिर भी देवदत्त ने कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप अश्रु विसर्जित करता रहा। अन्निका ने तब वह पत्र अपने हाथों में ले लिया। आद्यान्त पढ़कर बोली—"इसके लिए आप इतने अधीर क्यों हैं? हम कल ही उत्तर-मथुरा के लिए यात्रा करेंगे।"

देवदत्त रुद्ध कण्ठ से बोला—"यह नहीं हो सकता अन्निका। मैं जयसिंह से प्रतिज्ञाबद्ध हूँ कि जब तक हमारी प्रथम सन्तान नहीं होगी मैं इस स्थान का परित्याग नहीं कर सकता।"

अन्निका हँसकर बोली—"आप इसके लिए इतने चिन्तित न हों। मेरे पास इसका भी समाधान है। आप निश्चिन्त हो जाइए।"

अन्निका अपने भाई के पास जाकर बोली—"भैया, विज्ञ होकर आपने यह क्या किया? मेरे सास-श्वशुर का पत्र आया है। वे मृत्यु के सन्निकट हैं। उन्होंने लिखा है—यदि हमारे अन्तिम दर्शन करने हैं तो चले आओ। आपके बहनोई दुःखित होकर अश्रु-विसर्जित कर रहे हैं। किन्तु आपसे प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण जाने में असमर्थ हैं। परन्तु मैं तो आपके निकट प्रतिज्ञाबद्ध नहीं हूँ। फिर मैंने तो आज तक अपने सास-श्वशुर को देखा तक नहीं है। अतः उनके प्रथम और अन्तिम दर्शनों के लिए मैं कल ही उत्तर-मथुरा के लिए प्रस्थान करूँगी। आप यात्रा की सारी व्यवस्था करवा दीजिए।"

अन्निका के कथन से जयसिंह समझ गया कि उसका कथन व्यर्थ नहीं है। अतः उसने तत्काल ही अन्निका के जाने की व्यवस्था करवा दी। इतना ही नहीं देवदत्त को भी प्रतिज्ञा मुक्त कर दिया। ऐसे तो देवदत्त की प्रतिज्ञा अंशतः पूर्ण हो ही चुकी थी। कारण अन्निका आसन्न-प्रसवा थी।

पथ दीर्घ था। विन्ध्य अटवी अतिक्रम कर उत्तरापथ आते-आते कई मास व्यतीत हो गए। अतः पथ मध्य ही अन्निका ने एक पुत्र को जन्म दिया। देवदत्त और अन्निका ने उस पुत्र का नामकरण नहीं किया। उन्होंने स्थिर किया कि जब हम अल्प दिनों में ही उत्तर-मथुरा पहुँच रहे हैं तब इसके पितामह-पितामही को ही इसका नामकरण करना चाहिए। अतः सभी उस नवजातक को अन्निकापुत्र कहकर पुकारने लगे। यद्यपि दादा-दादी ने उसका नाम सन्धीरन रखा था लेकिन, यह नाम प्रचलित नहीं हो पाया। लोक मुख में उसका नाम अन्निकापुत्र ही रह गया।

यथा समय वे उत्तर-मथुरा पहुँच गए। देवदत्त के माता-पिता ने जब उससे कहा—"पुत्र विदेश से हमारे लिए क्या लाए हो" तो उसने अन्निकापुत्र को उनके चरण प्रान्तों पर रख दिया। विलक्षण लक्षणयुक्त पौत्र को पाकर उन्हें असीम आनन्द हुआ।

क्रमशः अन्निकापुत्र बड़ा होने लगा। सब प्रकार की शिक्षा उसे दी गयी थी। किन्तु उसका मन संसार की ओर नहीं था। इसीलिए जब देवदत्त और अन्निका उसके लिए वधू सन्धान करने लगे तो अन्निकापुत्र एक निर्ग्रन्थ आचार्य के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण कर प्रव्रजित हो गया।

श्रमण अन्निकापुत्र शास्त्रपाठ, स्वाध्याय, तपस्यादि में रत रहकर प्रखर चारित्रसम्पन्न हो उठे। संघ ने उन्हें आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

जब आचार्य अन्निकापुत्र वयोवृद्ध हो गए, पद विहार करने में असमर्थ हो गए तो गंगातटवर्ती पुष्पभद्रनगर में अवस्थान करने लगे।

उस समय पुष्पभद्र नगर में राजा पुष्पचूल राज्य कर रहे थे। उनकी रानी का नाम था पुष्पचूला। पुष्पचूल और पुष्पचूला पति-पत्नी होने पर भी कौमार्य अवस्था में सगे भाई-बहन थे। राजा पुष्पकेतु के औरस से रानी पुष्पवती के गर्भ में ये यमज रूप में उत्पन्न हुए थे। इनके बचपन का प्रेम क्रमशः यौवन के प्रणय में परिणत हो गया। यह देखकर राजा पुष्पकेतु ने दोनों का विवाह कर दिया। किन्तु इस असामाजिक विवाह को रानी पुष्पवती सहन न कर सकी। उसने पति से क्रुद्ध होकर श्रमणी दीक्षा अंगीकार कर साध्वी संघ में प्रवेश कर लिया। समय पाकर उसकी मृत्यु हुई। पुष्पकेतु भी काल-कवलित हुए। तदुपरान्त पुष्पचूल पिता के सिंहासन पर बैठा।

मृत्यु के पश्चात् पुष्पवती स्वर्ग में देवी रूप में उत्पन्न हुई। अवधिज्ञान से अपने पुत्र और कन्या को अकृतचारी देखकर पुष्पचूला को प्रतिबोध देने के लिए स्वप्न में नरक-यातना के दृश्य दिखलाने लगी। उन दृश्यों को देखकर

पुष्पचूला चिल्लाकर जाग पड़ती। भय से उसका समस्त शरीर काँपने लगता। पुष्पचूल ने शान्तिपाठ के लिए कुशल पण्डितों को बुलवाया—धर्माचार्यों को बुलाकर नरक विवृत करवाया। लेकिन वे जो उत्तर देते पुष्पचूला उससे सन्तुष्ट नहीं होती और न ही शान्ति स्वस्त्ययनों का ही कोई फल निकला।

एक दिन पुष्पचूल ने अग्निकापुत्र को बुलवाया। अग्निकापुत्र ने नरकों का यथायथ विवरण बताया। यह विवरण वैसा ही था जैसा पुष्पचूला स्वप्न में देखती थी। अतः उसने प्रश्न किया—"भन्ते, क्या आपने भी स्वप्न में नरक के इन दृश्यों को देखा है ?"

आचार्य अग्निकापुत्र ने उत्तर दिया—"नहीं कल्याणी, इस प्रकार के नरक दृश्य मैंने स्वप्न में नहीं देखे हैं।"

"भगवन्, तब आप इससे किस प्रकार अवगत हुए ?"

अग्निकापुत्र बोले—"भद्रे, जैन आगम ग्रन्थों के पाठ और अनुशीलन से मैंने यह सब ज्ञात किया है।"

पुष्पचूला पुनः बोली—"भगवन्, किन कर्मों के कारण जीव इस प्रकार की नरक यन्त्रणा भोगता है ?"

अग्निकापुत्र बोले—"भद्रे, महारम्भ, महापरिग्रह, गुरु की प्रत्यनीकता, पंचेन्द्रिय जीवों का वध और मांसाहार करने के कारण जीव नरक गमन करता है।"

यह सुनकर पुष्पचूला के मन में संसार से विरक्ति हो गयी, किन्तु पूर्णतः वैराग्य नहीं हुआ। अतः उसकी माँ ने स्वप्न में उसे स्वर्ग के वैभव और आनन्द के दृश्य दिखलाने प्रारम्भ किए। पुष्पचूला ने उन स्वप्नों की बात भी अपने पति से कही। पुष्पचूल ने पुनः अग्निकापुत्र को बुलवाया और उन्हें स्वर्ग का विवरण देने को कहा। उन्होंने स्वर्ग का जो विवरण दिया वह पुष्पचूला के स्वप्न जैसा ही था। पुष्पचूला बोल उठी—"भगवन्, क्या आपने भी स्वप्न में स्वर्ग के दृश्य देखे हैं जिससे कि आपने सब कुछ हस्तरेखावत विवृत किया ?"

अग्निकापुत्र ने प्रत्युत्तर दिया—"नहीं कल्याणी, मैंने स्वप्न में स्वर्ग के दृश्य नहीं देखे। लेकिन जैनागमों की भाँति अक्षय निधि जिसके पास हों उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है।"

तब पुष्पचूला ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्, किस प्रकार के आचरण से स्वर्ग प्राप्त होता है ?"

अग्निकापुत्र ने उत्तर दिया—"देव, गुरु और धर्म पर जिसकी दृढ़ श्रद्धा होती है उसे स्वर्ग मिलता है।"

तब अग्निकापुत्र ने चारित्र धर्म की विशद् व्याख्या की। उस व्याख्या को सुनकर पुष्पचूला का मन संसार से पूर्णतः हट गया। उसने अग्निकापुत्र को वन्दन कर कहा—"भगवन्, पति की आज्ञा लेकर संयम ग्रहण करने के लिए मैं शीघ्र ही आपके चरणों में उपस्थित होऊँगी।"

अग्निकापुत्र बोले—"कल्याणी, शुभ कार्य में सावधान रहना।"

पुष्पचूला ने पति से प्रव्रज्या ग्रहण की अनुमति माँगी। अत्यधिक स्नेह के कारण प्रथमतः पुष्पचूल सम्मत नहीं हुआ। बाद में उसका आग्रह देखकर बोला—"दीक्षित होने के पश्चात् प्रतिदिन यदि तुम राजप्रासाद से ही भिक्षा ग्रहण करो तो मैं अनुमति दे सकता हूँ।"

इस शर्त को स्वीकार कर पुष्पचूला प्रव्रजित हो गयी।

आचार्य अग्निकापुत्र ने एक दिन ध्यान में देखा कि आगामी बारह वर्ष तक इस अंचल में दुर्भिक्ष पड़ेगा। अतः उन्होंने श्रमण-श्रमणियों को निरापद स्थान में भेज दिया। असमर्थता के कारण स्वयं वहीं रह गए। उनकी परिचर्या के लिए साध्वी पुष्पचूला भी वहीं रह गयी। वह रोज भिक्षाचर्या के लिए राज्यान्तःपुर जाती। वहाँ से जो भिक्षा लाती उससे आचार्य को आहार करवा कर स्वयं आहार करती।

उत्कट तपस्या, एकाग्र ध्यान, अपूर्व श्रुताराधना के साथ-साथ आचार्य की इस सेवा ने पुष्पचूला को कर्म निर्जरा की शेष सीमा पर उपस्थित कर दिया। एक दिन उसने चार घाती कर्मों को क्षय कर दिव्य, निर्मल, अव्याबाध, पूर्ण केवल ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु पुष्पचूला ने आचार्य को यह ज्ञात नहीं होने दिया क्योंकि, ज्ञात होने से वे केवली से सेवा ग्रहण नहीं करते। किन्तु कई बार अग्निकापुत्र को आश्चर्य होता कि उनके मन में जो कुछ आता पुष्पचूला वह कार्य उनके कहने के पूर्व ही कर देती। एक बार उन्होंने पूछा भी। पुष्पचूला ने उत्तर दिया—"जो जिसके निकट रहता है उसका मनोभाव जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

किन्तु, सत्य एक दिन प्रकट हो गया। उस दिन सुबह से बूँदा-बाँदी हो रही थी। फिर भी पुष्पचूला जब उस बरसात में भिक्षा ले आयी तब आचार्य मृदु भर्त्सना करते हुए बोले—"वत्से, तुम श्रुतज्ञा होते हुए भी बरसती हुई बरसात में भिक्षा कैसे ले आयी ?"

पुष्पचूला ने करबद्ध होकर कहा—"भन्ते, जिस ओर अचित्त वर्षा हो रही

थी उसी ओर से यत्नपूर्वक मैं भिक्षा ले आयी थी। अतः नियम का अतिचार नहीं हुआ।"

आचार्य ने पुनः प्रश्न किया—"वत्से, अचित्त अपकाय को तुम कैसे जानी ?"

पुष्पचूला ने सरल भाव से उत्तर दिया—"ज्ञान से।"

"किस ज्ञान से ?"—आचार्य ने पूछा।

तब पुष्पचूला के सम्मुख सत्य बोलने के सिवाय दूसरी राह नहीं थी। उसने कहा—"केवल ज्ञान से।"

यह सुनकर केवली की अवहेलना करने के कारण उनके मन में पश्चाताप उत्पन्न हुआ। साथ ही साथ स्वयं के लिए शंका भी हुई कि—मुझे तो अभी तक केवल ज्ञान हुआ नहीं और मेरी शिष्या को हो गया। उन्होंने फिर प्रश्न किया—"आर्ये, मुझे केवलज्ञान होगा कि नहीं ?"

पुष्पचूला बोली—"धैर्य मत खोइए आचार्य प्रवर! आपको भी केवलज्ञान होगा। आपकी साधना भी अब उत्क्रान्ति की ओर है।"

"किन्तु कब होगा ?" आचार्य अग्निकापुत्र ने व्यग्रतापूर्वक पूछा।

पुष्पचूला ने प्रत्युत्तर दिया—"उस समय होगा जबकि आप गंगा नदी अतिक्रम करेंगे।"

केवलज्ञान प्राप्ति की व्याकुलता ने आचार्य अग्निकापुत्र को गंगानदी अतिक्रम करने को तरान्वित बना दिया। गंगा नदी को अतिक्रम करने के लिए वे नौका पर चढ़े। नौका अधिक दूर गयी नहीं कि जिस ओर आचार्य बैठे थे उस ओर की नौका जल में डूबने लगी। अग्निकापुत्र उठकर दूसरी ओर बैठ गए। बैठते ही उधर का हिस्सा जल में डूबने लगा। तब वे उठकर नौका के मध्य में आ बैठे। इस बार पूरी नौका ही डूबने लगी। अतः नौका के अन्यान्य आरोहियों ने जब देखा कि अग्निकापुत्र जिस ओर बैठते हैं उसी ओर से वह डूबने लगती है इसलिए अपने प्राणों को बचाने के लिए उन्हें पकड़कर जल में फेंक दिया। जहाँ उन्हें फेंका वहाँ एक दुष्ट देवता हाथ में त्रिशूल लिए खड़ा था। वह त्रिशूल अग्निकापुत्र की देह को आरपार कर गया। असह्य वेदना होने लगी किन्तु अग्निकापुत्र हतप्रभ न होकर आत्म परायण हो गए। शरीर से आत्मा भिन्न है—इस तथ्य की उपलब्धि हुई। जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त में केवल ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने निर्वाण लाभ किया। जिस स्थान पर उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ वह स्थान आज प्रयाग के नाम से विख्यात् है।

हम अधीर होकर कहानी सुन रहे थे। कहानी रोमांचक थी इसमें कोई सन्देह नहीं था। किन्तु, पाटलीवृक्ष से इस कहानी का क्या सम्बन्ध है? मैं यह पूछने जा ही रहा था कि आचार्य भृगुपाद कहने लगे—

आचार्य अग्निकापुत्र के निर्वाण के पश्चात् उनके देह को जल-जन्तुओं ने क्षत-विक्षत कर भक्षण कर डाला। देह की अस्थियाँ विच्छिन्न-विश्लिष्ट होकर इधर-उधर निक्षिप्त हो गयी। मात्र खोपड़ी जल में अनेक दूर प्रवाहित होकर लहरों के चपेटों से इसी घाट पर आकर एक असमतल स्थान में अटक गयी। संयोगवश एक दिन उसी खोपड़ी में पाटलीवृक्ष का बीज आ पड़ा। क्रमशः वह दाहिनी ओर की हड्डी को विदीर्ण कर अंकुरित हो गया। काल-क्रम से वही अंकुर इस पाटलीवृक्ष के रूप में परिणत हो गया। आचार्य अग्निकापुत्र की खोपड़ी से उत्पन्न होने के कारण यह वृक्ष अत्यन्त पवित्र है। आचार्य प्रभव ने कथा के प्रसंग में कहा था कि भवान्तर में इस वृक्ष का जीव भी निर्वाण प्राप्त करेगा।

कहानी खत्म हो गयी थी। सभी एक-एक कर उठकर चले गए। किन्तु मैं नहीं उठ सका। देखा—गंगा के स्वच्छ सैकत पर ज्योत्सना झिलमिल-झिलमिल कर रही थी और उसी के बीच-बीच में गंगा की धारा दूर-दूर तक प्रसारित रजत चूर्ण समावृत रूपहले प्रवाह-सा लग रहा था। दिगन्तर के एक कोण से क्षीण सोनाली रेखा रूप में इस धारा का आविर्भाव हुआ है। और अन्य दिगन्त के कोने में क्षीण रेखा रूप में ही वह विलुप्त हो गयी है। उसकी चंचल तरंगे सोपान श्रेणियों की भाँति लग रही थी। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बार-बार उसमें प्रतिहत होकर खण्ड-खण्ड हो रहा था। मैं प्रारम्भ से अन्त तक उसी ऐतिहासिक कथा पर चिन्तन कर रहा था। न जाने क्यों मन में आया कि इस इतिहास का जैसे कोई अर्थ ही नहीं है। अर्थ खोजकर हम केवल अनर्थ की ही सृष्टि करते हैं। सत्य है वही प्रवाह। आचार्य अग्निका-पुत्र की खोपड़ी मेरी आँखों के आगे नृत्य करने लगी।

सहसा नींद टूट गयी। इतिहास की पुस्तक हाथ से छूटकर धरती पर गिर पड़ी थी। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। घड़ी में एक बज गया था। अतः बिजली बुझाकर सो गया। सोचने लगा—काल का भी कैसा अनतिक्रमणीय विधान है—जिस इतिहास को एक दिन मैंने रचा था वही इतिहास मुझे आज कण्ठस्थ करना पड़ रहा है।

ब्राह्मण और जैन संस्कृति

पूरणचंद सामसुखा

ऐतिहासिक काल के बहुत पहले से ही भारतवर्ष में संस्कृति की दो धाराएँ चली आ रही हैं। इन दो धाराओं में से कौन-सी पहले की है और कौन-सी पीछे उद्भुत हुई यह निर्धारण करना सम्भव नहीं। संस्कृति की इन दोनों धाराओं की प्राथमिक अवस्था में एक धारा में ऐहिक सुख व भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने को व परलोक में अधिकतर सुख व ऐश्वर्य प्राप्त करने को लक्ष्य करके पुरुषार्थ किया जाता था और दूसरी धारा में इहलोक व परलोक के सुख व ऐश्वर्य को क्षणस्थायी व तुच्छ समझकर शाश्वत सुख प्राप्ति की तरफ लक्ष्य करके पुरुषार्थ किया जाता था। भारतवर्ष की संस्कृतियों में पहली धारा को 'ब्राह्मण' संस्कृति और दूसरी धारा को 'श्रमण' संस्कृति कहा जाता है।

वैदिक काल में ब्राह्मण संस्कृति के धारक मनुष्य यज्ञानुष्ठान करके इहलोक के सुख व साधनों को प्राप्त करने के लिये देवताओं से प्रार्थना किया करते थे और शतवर्ष जीवित रहने की अभिलाषा करते थे परन्तु श्रमण संस्कृति के उपासक मनुष्य ऐहिक सुखों को अनित्य समझकर शाश्वत सुख प्राप्ति की अभिलाषा से वर्तमान शारीरिक सुख और विलासों को त्याग कर घोर तपस्या में रत रहा करते थे। ब्राह्मण व श्रमण संस्कृति की दो जुदी-जुदी धाराएँ एक ही देश में साथ-साथ प्रवाहित होकर और परस्पर के प्रभाव से प्रभावान्वित होकर भी दो प्रबल स्रोतस्विनी की धाराओं के समान स्मरणातीत काल से पृथक्-पृथक् दिशाओं में प्रवाहित होती रही हैं। जैन संस्कृति श्रमण संस्कृति की ही एक उपधारा है। बौद्ध संस्कृति भी वैसी ही एक उपधारा है।

ब्राह्मण संस्कृति व जैन संस्कृति में जीवन दर्शन का भी पार्थक्य है। पहली में जीवन को सत्कार्य में नियुक्त रखकर भी यथोचित उपभोग करने में दोष नहीं समझते, परन्तु दूसरी में वर्तमान जीवन को भविष्य जीवन को सुखी बनाने के प्रयोजन में लगा देने को उचित समझकर वर्तमान जीवन में भौतिक सुखों के त्याग को ही महत्व दिया गया है। हाँ, उपनिषदों के युग में वैदिक काल से चले आये जीवनदर्शन में कुछ परिवर्तन जरूर आया। ऋषिगण विचार करने लगे—'ब्रह्म कौन है, हम सब किससे उत्पन्न हुये हैं, किसके प्रभाव से हम जी रहे हैं, किसमें हम अधिष्ठित हैं, किस कारण से हम सुख-दुःख पा रहे हैं'[1]

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद्, १-१।

इत्यादि। इस प्रकारके गहरे अनुसंधान में वे लग गये और इस अन्वेषण के फलस्वरूप वे परमब्रह्म की कल्पना करके उससे ही दृश्य व अदृश्य समस्त जगत-प्रपंच की उत्पत्ति मानने लगे और ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये तपस्या भी करने लगे। ब्रह्म से फिर सृष्टि का पालन व संहार करने वाले ईश्वर की कल्पना आई एवं उस ईश्वर के ऊपर निर्भर रहकर उसकी भक्ति करके अपवर्ग साधन करने की प्रथा चल पड़ी जो आज तक नाना रूपों में चल रही है। उपनिषद् के ब्रह्म भगवद् गीता में पुरुषोत्तम नाम से वर्णित हुए और सम्पूर्ण रूप से उसकी शरण में आने वालों को—'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः'[२]—कहकर आश्वासन दिया गया है। 'मेरी उपासना करने से मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा'—भक्तिवाद की जड़ यहाँ से ही जमी और क्रमशः प्रकाण्ड वृक्ष के रूप में ऐसी बढ़ी कि आज समस्त भारत में फैली हुई है।

परन्तु जैन संस्कृति की धारा पहले जिस रूप और दिशा में प्रवाहित हो रही थी, आज भी उसी रूप और दिशा में प्रवाहित हो रही है, यद्यपि वह धारा बहुत क्षीण हो गई है। यह संस्कृति पहले से ही सम्पूर्ण जगत प्रपंच का कारण परब्रह्म को स्वीकार नहीं करके जड़ व चेतन ऐसी दो नित्य वस्तुएँ स्वीकार कर उन्हीं के संयोग-वियोग से सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि, स्थिति व संहार के स्वाभाविक गुणों को मानती हुई चली आ रही थी और आज भी यही मान्यताओं के साथ चली जा रही है। भक्तिवाद के प्रबल प्लावन का असर जैन धारा में भी आया परन्तु इसकी प्राणशक्ति आज भी अहिंसा, संयम तथा तपस्या में ही सीमित है, त्याग की महिमा आज भी उज्ज्वल है। आश्रय व निर्भर करने के तत्त्व को नहीं मानने से इस धारा में आत्मा व आत्मा की अनन्त शक्ति को स्वतन्त्र मानकर उसके ही ऊपर निर्भर रहने के अलावा और कोई उपाय रहा नहीं और इसी कारण से जैन शास्त्रों में आत्मा को जानने पर, अपनी आत्मिक शक्ति पर निर्भरशील होने पर, देह को तुच्छ समझकर परिषहों को सहन करने पर, भौतिक सुखों को त्याग करने आदि पर इतना अधिक जोर दिया गया है।

अहिंसा ही जैन संस्कृति का प्राण है। समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखना, उनके दुःख-कष्ट को अपना दुःख-कष्ट समझकर हिंसा से निवृत्त होना ही जैन संस्कृति का मूल है। सदा अप्रमत्त भाव से अहिंसा-पालन धर्म की दृढ़-भित्ति के ऊपर ही जैन संस्कृति का उच्च महल निर्मित हुआ है। असत्य, चौर्य,

[२] भगवद्गीता, १८-६६।

अब्रह्मचर्य व परिग्रह-परित्याग न करने से स्व-हिंसा व पर-हिंसा से निवृत्त होना सम्भव नहीं है इसी कारण से अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह इन चार महाव्रतों का पालन करना भी आवश्यक है। मन व इन्द्रियों को संयत नहीं करने से महाव्रतों का पालन यथार्थ रूप से नहीं हो सकता, तपस्या के बिना मन व इन्द्रियों को संयत करना शक्य नहीं अतएव अहिंसा, संयम व तपस्या के मार्ग को ही आत्मिक विकास करने का साधन माना गया है। जैन संस्कृति में जितने अनुशासन दिये गये हैं, जितनी शिक्षाएँ दी गई हैं, जितने आदर्श उपस्थित किये गये हैं वे सब आत्मिक विकास व उनके अहिंसादि साधनों को लक्ष्य करके ही किये गये हैं।

जैन संस्कृति के द्वारा प्रचारित अहिंसा का प्रभाव समग्र भारत में पड़ा व यज्ञ में पशु-बलि देने की प्रथा की विलुप्ति में भी जैन संस्कृति का ही प्रभाव है ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जैन संस्कृति में अहिंसा को इतनी अधिक प्रधानता दी गई है कि निम्न स्तर के प्राणियों से पशु-पक्षी-मनुष्य तक समस्त प्रकार के प्राणी के प्रति दया, मैत्री व समभाव पोषण करने के निर्देश से जैनशास्त्र भरे पड़े हैं। किसी भी प्राणी की हत्या करना, उससे जबर्दस्ती बेगार करा लेना अर्थात् किसी जीव के मन, वचन, काया को किसी भी प्रकार से कष्ट देना निषेध है। अहिंसा की भावना को इतना महत्त्व दिया गया है कि जैनों के प्रत्येक कृत्य में "मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ" समस्त प्राणियों के साथ मेरी मित्रता है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है की भावना दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहती है। अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा जैन संस्कृति की यही विशिष्टता है।

ब्राह्मण संस्कृति में पितृऋण-परिशोध करने के लिये पुत्रोत्पादन करना आवश्यक है परन्तु जैन संस्कृति में ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य पालन करने का ही जैन शास्त्रों में निर्देश है। कोई भी विवाहित या अविवाहित व्यक्ति वैराग्य से प्रभावित होकर संसार त्याग करके सन्यास व संयम अवलम्बन कर सकता है। पुत्रोत्पादन नहीं होना उस व्यक्ति के मुक्ति प्राप्त करने में बाधक नहीं हो सकता।

ब्राह्मण संस्कृति में मृत व्यक्ति का श्राद्ध करना एक अत्यावश्यक कृत्य माना जाता है। मृत व्यक्ति पितृलोक में उत्पन्न होते हैं व श्राद्ध में प्रदत्त नैवेद्यादि से उन्हें तृप्ति होती है यह मान्यता इस कृत्य के मूल में है। परन्तु जैन संस्कृति में न तो ऐसी मान्यता है और न श्राद्ध करने की विधि ही है। जैन मान्यता तो

यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मानुसार देव, नरक आदि गतियों में उत्पन्न होते हैं व उन शरीरों के उपयुक्त आहारों से ही उन्हें तृप्ति होती है। यहाँ उनके उद्देश्य से निवेदित आहारादि उनके निकट पहुँच नहीं सकता।

तपस्या जैन संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है। जैन साहित्य तपस्या के गुण-वर्णन व उदाहरणों से परिपूर्ण है। स्वयं भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष व्यापी साधक अवस्था में जैसी घोर तपस्या की थी उसका विवरण याद करने से विस्मय व संभ्रम से अभिभूत हुये बिना नहीं रहा जाता। आज भी जैन साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका जैसी कठोर तपस्या करते हैं वैसी तपस्या और कोई भी सम्प्रदाय में नहीं देखी जाती।

ब्राह्मण संस्कृति में सर्वोच्च वर्ण के व्यक्तियों को ही शास्त्र पठन-पाठन व उपदेश देने का अधिकार है, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिये आध्यात्मिक उन्नति करने का मार्ग खुला नहीं है। परन्तु जैन संस्कृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी भी वर्ण के व्यक्ति के लिये ऐसी बाधा नहीं है। सामाजिक एवं निम्न स्तर के व्यक्तियों के लिये भी वैराग्य से प्रभावित होकर सन्यास ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है और अगर उनमें योग्यता हुई तो वे प्रधान उपदेशक का पद भी अलंकृत कर सकते हैं। उच्च वर्ण के श्रावकगण ऐसे साधु व उपदेशकों के पदवन्दन करने में जरा भी संकोच का अनुभव नहीं करते।

एक ही देश में, एक ही स्थान में ब्राह्मण व श्रमण संस्कृति की उत्पत्ति हुई है अतएव यह स्वाभाविक ही है कि दोनों ही परस्पर के प्रभाव से कुछ-न-कुछ अंश में प्रभावित हुई हैं। फिर भी वृहत् ब्राह्मण संस्कृति के संस्पर्श में आकर भी इतने सुदीर्घ काल तक जैन संस्कृति अपनी विशिष्टता की रक्षा करती चली आ रही है यह भी कम महत्त्व की बात नहीं है।

चित्तौड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ

भूरचन्द जैन

शूरवीरता, त्याग, बलिदान, देशभक्ति, गौरव एवं रोमांचक कहानियों के लिए वर्तमान राजस्थान का एवं प्राचीन मेवाड़ का चित्तौड़गढ़ परिचित रहा है। इसका कण-कण वीरों की पद्धूलि से पवित्र रहा है। यही वह भूमि है जिसके गर्भ से हमीर, चंड, कुम्भ, सांगा, प्रताप, गोरा-बादल, जयमल-पत्त, भामाशाह, पद्मनी, कर्णावती, मीरा, पन्नाधाय आदि अनुकरणीय महापुरुषों एवं महीसियों का उदय हुआ है जिनके उज्ज्वल चरित्र, त्यागमय जीवन, देश-भक्ति, स्वामी भक्ति ने भारतीय इतिहास में स्वर्ण पृष्ठ जोड़ने में महान् योगदान दिया है। राजस्थान का चित्तौड़ दुर्ग न केवल वीरों की रणस्थली रहा है अपितु यह साहित्य, संस्कृति, कला के विकास के साथ-साथ बारीक एवं उत्कृष्ट शिल्पकलाकृतियों के बेजोड़ नमूनों को अपनी गोद में संजोए रखने का सौभाग्य प्राप्त किया हुआ है। साहित्य, संस्कृति, कला के उपासकों ने इस पुण्य भूमि पर कई रचनात्मक कार्य किये है जो भारतीय इतिहास के आज अमर अध्याय बने हुए हैं। शिल्पकला के लिये चित्तौड़ दुर्ग एक प्रकार की खान है जिसकी गोद में एक-से-एक सुन्दर राजप्रासाद, वीरों के स्मारक, मन्दिर, तालाब विद्यमान हैं जिसकी शिल्पकला आगन्तुकों को सदैव जिज्ञासु बनाये रखती है। चित्तौड़ का जगत्प्रसिद्ध ऐतिहासिक विजय स्तम्भ का आकर्षण एवं बनावट आज भी राजस्थान का परिचायक बनी हुई है। इसी दुर्ग पर जैन धर्मावलम्बियों का बना सुन्दर शिल्पकलाकृतियों से परिपूर्ण धार्मिक कीर्ति स्तम्भ आज भी धर्म प्रेमियों की उदारता, दानशीलता एवं कला प्रियता का परिचय देता है।

यह जैन कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़ दुर्ग पर सूरजपोल से उत्तर की तरफ जाने वाली सड़क के पूर्व की ओर अवस्थित है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में इतिहासकारों की भिन्न-भिन्न राय है। इतिहास लेखक फरगूसन की मान्यता है कि इस कीर्ति स्तम्भ का निर्माण सं० ९५२ (सन् ८९६) में हुआ लेकिन, अधिकतर प्राचीन शिलालेखों एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों में १२ वीं शताब्दी में होने का उल्लेख मिलता है। आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि इसका निर्माण सं० ११०० में हुआ है। इस विशालकाय इमारत का निर्माण दिगम्बर

जैन सम्प्रदाय के बघेरवाल महाजन सानाय के पुत्र जीजा ने करवाया। नांदगांव के एक दिगम्बर जैन मन्दिर से प्राप्त धातु प्रतिमा पर सं० १५४१ (सन् १४८५) के लेख के अनुसार इस स्मारक का निर्माण जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया है। ऐतिहासिक मान्यताओं एवं सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह इमारत ११ वीं शताब्दी के अन्त अथवा १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अवश्य ही बनी है।

चित्तौड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ इतिहास प्रसिद्ध चितौड़ दुर्ग पर जमीन से १६ फीट ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ है। जमीन से चबूतरे तक १२ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इस चबूतरे पर निर्मित स्थापत्यकला की यह अद्भुत एवं अनोखी इमारत ७६ फीट की ऊँचाई लिये हुए आज भी आगन्तुकों को स्वतः ही अपने पाषाण एवं निर्माण की ओर आकर्षित करती रहती है। इस स्मारक का नीचे का व्यास ३२ फीट का है और सबसे ऊँचाई का आकार १५ फीट का दृष्टिगोचर होता है। यह स्मारक सात खण्डों को लिये आज भी जैन धर्म की महत्ता, स्थापत्यकला, मूर्तिकला का दिग्दर्शन करता है। सातों खण्डों में विभिन्न प्रकार की सुन्दर एवं बारीक शिल्पकलाकृतियों का प्रदर्शन किया हुआ है। स्तम्भ के सभी खण्डों को छोटी-छोटी सीढ़ियों से जोड़ रखा है। इसके द्वारा इस भव्य इमारत के सबसे ऊँचे सातवें खण्ड पर पहुँचा जा सकता है। यहाँ से वीरों की रणस्थली, भक्तों की पुण्यभूमि, विद्वानों की कर्मभूमि, दानवीरों की त्यागभूमि एवं आगन्तुकों की दर्शनीय भूमि चित्तौड़ का विस्तार से दिग्दर्शन होता है।

जैन कीर्ति स्तम्भ को मूर्त्तियों का यदि संग्रहालय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस स्मारक को शिल्पियों ने अपने अथक परिश्रम से शिल्पकलाकृतियों से सजाने एवं संवारने का अद्भुत प्रयत्न किया है। स्तम्भ के नीचे भाग पर हंस पीठ, सिंहमुखथर, गजथर एवं नवथर की कलाकृतियों की पंक्तियाँ बनी हुई हैं। स्तम्भ का प्रवेश द्वार अत्यन्त ही बारीक शिल्पकलाकृतियाँ लिये हुए है। इसके प्रत्येक पार्श्व एवं कोणों में पाषाणों की विभिन्न मुद्राओं और आकृतियों में बनी मूर्तियाँ सुन्दरता को बढ़ाती है। प्रवेश द्वार के ऊपरी भाग पर चारों ओर पांच-पांच फुट की श्री आदिनाथ भगवान की विशाल प्रतिमाएँ बनी हुई हैं, जिसके ऊपर के गुम्बज और बाहर छोटे-छोटे स्तम्भों को शिल्पकलाकृतियों से संवारने का भरसक प्रयास किया गया है। चारों ओर श्री आदिनाथ तीर्थंकर की विशाल प्रतिमाओं के बीच में कई देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं, जिसके

ऊपर विशाल ईमारत के छज्जे इन प्रतिमाओं की रक्षा करने में सदियों से कटिबद्ध हैं।

इस जैन कीर्ति स्तम्भ के मध्यभाग में सुन्दर झरोखों और गोखों की बनावट बड़ी ही कलात्मक ढंग से की हुई है। इसके ऊपर स्तम्भ का सबसे ऊँचाई वाला भाग बना हुआ है जो गंधकुटी रूपी छतरी का परिचायक लगता है। इसके तोरण, कन्गुरें, जालियों, स्तम्भों को शिल्पकारों ने आकर्षित बनाने का भरसक प्रयास किया है। इस स्तम्भ के सबसे ऊँचाई वाले भाग पर बिजली गिरने से वह टूट गया था, जिसका जीर्णोद्धार तत्कालीन महाराणा फतेहसिंह ने अपनी देखरेख में सम्पन्न करवाया। इस जीर्णोद्धार पर करीबन ८० हजार रुपये खर्च हुए थे।

प्राचीन जैन कीर्ति स्तम्भ एवं उसके सामने बने श्री आदिनाथ भगवान के मन्दिर का जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भ के समय में सं० १४६४ (सन् १४३८) में ओसवाल महाजन गुणराज ने अतुल्य धनराशि खर्च कर करवाया था। महाराणा फतेहसिंह के जीर्णोद्धार के पश्चात् भी इस स्तम्भ के समक्ष बने श्री आदिनाथ भगवान के मन्दिर के शिखर, सभा मंडप की छत, प्रवेश द्वार एवं अन्य जीर्ण-शीर्ण भागों की मरम्मत करवाई गई प्रतीत होती है।

चित्तौड़ दुर्ग पर श्री आदिनाथ भगवान के प्राचीन मन्दिर के समक्ष यह जैन कीर्ति स्तम्भ बना हुआ है जो मान स्तम्भ के रूप में है। इसलिये इसे जैन कीर्ति स्तम्भ के अतिरिक्त श्री आदि तीर्थंकर स्मारक के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। श्री आदिनाथ एवं जैन कीर्ति स्तम्भ पर भगवान श्री आदिनाथ तीर्थंकर के अतिरिक्त कई जैन तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इस भव्य धार्मिक मन्दिर एवं ऐतिहासिक कीर्ति स्तम्भ का निर्माण दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रद्धालु भक्तों ने ही किया है।

राजस्थान का गौरवशाली चित्तौड़ दुर्ग ऐतिहासिक, धार्मिक एवं वीरों की स्मृति स्मारकों के लिये विख्यात है। जहाँ इसके विजय स्तम्भ की लोकप्रियता सर्व विख्यात है वहाँ जैन कीर्ति स्तम्भ की धार्मिक महत्ता भी अनूठी ही है। ये दोनों स्मारक आज भी वीर भूमि राजस्थान के गौरव बने हुए हैं।

जैन दर्शन में कर्मवाद

हरिसत्य भट्टाचार्य

कर्मवाद क्या है? कर्म के साथ निश्चित फल के अच्छेद्य सम्बन्ध का नाम कर्मवाद है। पृथ्वी के सभी भागों में, सभी दर्शनकारों ने कर्मवाद माना है। परन्तु भारतीय दर्शनों में इसने एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। भारतीय दर्शनों में परस्पर मतभेद होते हुए भी कर्मवाद के अमोघत्व को सभी ने स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसा में परब्रह्म का विचार नहीं है, इससे वह उत्तर मीमांसा से भिन्न हो जाता है। आत्मा की विविधता को स्वीकार करके सांख्य तथा योगदर्शन वेदांत का विरोध करते हैं। आत्मा में गुणादि का आरोप करके न्याय तथा वैशेषिक दर्शन, सांख्य तथा योगदर्शन का सामना करते हैं। आत्मा के गुण उसके (आत्मा के) साथ ही बद्ध हैं और पृथक्-पृथक् गुण-पर्यायों में आत्मा स्वयं ही प्रकाश को प्राप्त होती है, ऐसा कहकर जैन दर्शन न्याय और वैशेषिक के दोष बतलाता है। बौद्ध दर्शन नित्य सत्य आत्मा का अस्तित्व ही नहीं स्वीकारता। इस प्रकार की अनेकों भिन्नता और विरुद्धता होते हुए भी कर्मवाद के विषय में सभी प्रायः एक-मत हैं—अर्थात् मनुष्य जो बोता है, उसी का फल प्राप्त करता है, इसका भारतीय दर्शनों में से कोई भी विरोध नहीं करता। मुसलमानों और ईसाइयों में जो करुणावाद (Doctrine of Grace) और जिसे अन्य कोई भी कर सके ऐसा प्रायश्चित्तवाद (Doctrine of Vicarious Atonement) प्रचलित है उससे प्राचीन भारत अपरिचित था, ऐसा कदाचित् कहा जा सके। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रभाव से पुराने—प्राक्तन कर्मों के फल को रोका जा सकता है तथा नवीन कर्मों का एवं उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले दुःखमय जन्म मरणादि का भी निवारण हो सकता है—यह हमारा भारतीय मत है। प्राक्तन कर्मों में एक अलंघ्य शक्ति होती है, इस बात से किसी ने इन्कार नहीं किया। कर्म का फल इतना दुरतिक्रमणीय है कि केवली भगवान को भी अपने पूर्वकृत कर्म भोगने के लिए कुछ समय तक शरीररूपी कारागार में रहना पड़ता है। इस आशय के शास्त्रों में कितने ही उल्लेख हैं। एक वेदपंथी कवि शिल्हन मिश्र कहते हैं—

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम् ।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां
छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धि ॥

—शान्तिशतकम्, ८२

आप उड़कर आकाश में चले जावें, दिशाओं के उस पार पहुँच जावें, समुद्रतल में घुस बैठें या चाहे जहाँ चले जावें, परन्तु जन्मान्तर में जो शुभाशुभ कर्म किए हैं उनके फल तो छाया के समान साथ ही साथ रहेंगे, वे तुम्हें कदापि न छोड़ेंगे ।

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगति प्पदेशो
यत्थट्ठितो मुञ्चेऽय्य पापकम्मा ॥

—धम्मपद, ९-१२

अन्तरिक्ष में चले जाओ, समुद्रों में घुस जाओ, गिरिकन्दरा में जा घुसो, परन्तु जगत में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है कि जहाँ तुम्हें पाप कर्मों का फल भोगना न पड़े ।

जैनाचार्य श्री अमितगति कहते हैं—

स्वयं कृतं कर्म्मं यदात्मना पुरः
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

—सामायिक पाठ, ३०

अपने पूर्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल भोगना ही पड़ता है । यदि अन्यकृत कर्मों का फल हमें भोगना पड़ता हो तब हमारे स्वकृत कर्म निरर्थक ही रहें ।

कर्म की सत्ता अत्यन्त प्रबल है । उसके सामने किसी का कुछ वश नहीं चलता । यहाँ यह बतलाना अभीष्ट है कि वह कर्म क्या है और कर्म के साथ कर्मफल का क्या सम्बन्ध है ।

पूर्व मीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड सम्बन्धी बहुत अधिक विवेचन है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसा दर्शन इसके अतिरिक्त और कुछ

कहना नहीं चाहता कि वेदविहित कर्म से स्वर्गादि प्राप्त हो सकते हैं। कर्म स्वभाव और कर्म प्रकृति के विषय में कुछ स्पष्टीकरण करने का कष्ट मीमांसा दर्शन ने नहीं उठाया। अतएव यहाँ हमें मीमांसा दर्शन के पेचीदा झगड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

'एकमेवाद्वितीयम्'—ब्रह्म पदार्थ—के स्वरूप के निर्णय में वेदान्त इतना मस्त हो गया है कि वह विचार जाल से बाहर ही नहीं निकल सकता। उसे कर्म के स्वभाव का निर्णय करने के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। सांख्य और योगदर्शन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वैशेषिक दर्शन भी कर्म की तात्विक आलोचना नहीं करता। सभी दर्शन स्वीकार करते हैं कि, कर्मों के साथ कर्मफल का अच्छेद्य सम्बन्ध है और प्राक्तन कर्म के प्रताप से ही जीव वर्तमान अवस्था प्राप्त करता है, परन्तु इस विषय पर सम्यक् रीति से किसी ने भी विचार नहीं किया है।

न्याय दर्शन ने कर्म के स्वरूप का निर्णय करने का कुछ प्रयत्न किया है। बौद्ध धर्म के मूल में कर्मतत्व ही मुख्य है ऐसा कहें तो अयुक्त न होगा। जैन दर्शन में कर्म की प्रकृति और भोगों के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। हम यहाँ न्याय, बौद्ध और जैन इन तीन दर्शनों की तुलनात्मक विवेचना करने का यत्न करेंगे।

कर्म के साथ कर्मफल का सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हुआ यह प्रश्न न्याय दर्शनकार के मन में अवश्य उत्पन्न हुआ था। कर्म पुरुषकृत है इस बात की भी उसे खबर थी। कर्म का फल अवश्यम्भावी है, इससे गौतम ने इन्कार नहीं किया। पर उसे यह भी मालूम था कि कई बार पुरुषकृत कर्म निष्फल चला जाता है। यहाँ एक उलझन आ पड़ी। गौतम के मन में स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि पुरुषकृत कर्म स्वयं ही कर्मफल किस प्रकार दे सकता है? अनेक बार कर्म के साथ कर्मफल का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, इस बात का समाधान करते हुए उन्होंने कर्म और कर्मफल के बीच में, कर्म से पृथक एक अन्य कारण प्रविष्ट कर दिया। उन्हें कहना पड़ा कि—

> ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।
> न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः।
> तत्कारितत्वादहेतुः।
>
> —न्यायसूत्र ४, १-१९-२१

कर्म के फल में ईश्वर ही कारण है। पुरुषकृत कर्म अनेक बार निष्फल

होते हुए देखे जाते हैं। पुरुषकृत कर्म के अभाव में कर्म के फल की उत्पत्ति नहीं होती अतएव कर्म ही फल का कारण है—यदि कोई यह कहे तो वह यथार्थ न होगा। कर्मफल का उदय ईश्वराधीन है अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि फल का एक मात्र कारण कर्म ही है।

गौतम सम्मत कर्मवाद के विषय में इतना तो समझ में आता है कि वे मानते हैं कि कर्मफल पुरुषकृत कर्म के अधीन है, परन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते कि कर्मफल का एकमात्र और अनन्य कारण कर्म ही है। उनके कथन का सारांश यह है कि यदि कर्मफल एक मात्र कर्म के ही अधीन हो तो फिर प्रत्येक कर्म का फल प्रकट होना चाहिए। यह तो यथार्थ है कि कर्मफल कर्म के अधीन है, परन्तु कर्म के फल का उदय अकेले कर्म पर ही निर्भर नहीं है; पुरुषकृत कर्म अनेक बार निष्फल जाते हुए देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मफल के विषय में कर्म से अतिरिक्त कर्मफल नियंता एक ईश्वर भी है। यहाँ पर नैयायिक लोग वृक्ष और बीज का उदाहरण देते हैं। वृक्ष बीज के अधीन है यह बात मान ली जा सकती है और इसी प्रकार कर्मफल को कर्म के अधीन मान सकते हैं, परन्तु वृक्ष की उत्पत्ति केवल बीज की ही अपेक्षा नहीं रखती, उसके लिए हवा, पानी और प्रकाशादि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कर्म फल के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता होती है।

न्याय दर्शन का मुख्य अभिप्राय यह है कि ईश्वर कर्म से पृथक है, परन्तु कर्म के साथ फल की योजना कर देता है। कितने ही दार्शनिक यह बात नहीं स्वीकारते कि ईश्वर इन झगड़ों में पड़ता है। प्राचीन न्याय में, कर्म और कर्मफलवाद की युक्ति पर ही ईश्वर का अस्तित्व अवलम्बित है। नवीन नैयायिकों को इस युक्ति पर विशेष आस्था नहीं है। कर्म के साथ फल का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ईश्वर को स्वीकार करने की अपेक्षा तो फल को पूर्णतः कर्माधीन मानना—अर्थात् यह स्वीकार करना कि कर्म स्वयं ही अपना फल उत्पन्न करता है अधिक उचित है। बौद्ध दार्शनिकों का यही मत है।

अन्य दर्शनकारों के समान बौद्ध दर्शन भी स्वीकार करता है कि कर्म के कारण ही यह संसार-प्रवाह प्रवाहित है। परन्तु गौतम और बुद्ध के कर्म में थोड़ा अन्तर है। बौद्धों का कर्म क्या है, यह समझने के लिए प्रथम संसार का

स्वरूप समझ लेना चाहिए। बौद्ध मतानुसार संसार एक अनादि, अनन्त और निःस्वभाव धारा प्रवाह है। बुद्धदेव एक स्थान पर कहते हैं—

"अज्ञान से संस्कार और संस्कार से विज्ञान का जन्म होता है। विज्ञान से नाम अथवा भौतिक देह, नाम से षट्क्षेत्र, षट्क्षेत्र से इन्द्रियाँ अथवा विषय और विषय अथवा इन्द्रिय संस्पर्श से वेदना पैदा होती है। वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जन्म और जन्म से वार्द्धक्य, मरण, दुःख, अनुशोचना, यातना, उद्वेग और नैराश्य आदि का जन्म होता है। दुःख तथा यन्त्रणा का चक्र इसी प्रकार चलता रहता है।"

बौद्ध मतानुसार संसार एक प्रवाह है। अज्ञान से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम अथवा भौतिक देह, और फिर उत्तरोत्तर षट्क्षेत्र, विषय, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म, जरा, मृत्यु आदि का क्रमशः जन्म होता है। पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर देखें तो बौद्ध मतानुसार संसार एक निरन्तर, सदा एक समान प्रवाहित रहनेवाला विज्ञान प्रवाह है।

इस विवेचन से भली-भाँति समझ में आ जाएगा कि संसार को कर्म मूलक मानने का बौद्धों का क्या आशय है अर्थात् वे कर्म किसे कहते हैं। उनके कथन का भाव यह नहीं है कि कर्म का अर्थ केवल पुरुषकृत कर्म है। वे लोग कर्म को नियम के अर्थ में व्यवहृत करते हैं। बौद्ध मतानुसार कर्म का अर्थ है जगद्व्यापी नियम (Law)। इसे 'कार्यकारण भाव' भी कह सकते हैं। इस नियम के सम्मुख संसार के समस्त भाव, पदार्थ और व्यापार सिर झुकाते हैं। इन्हीं से संसार चलता है। संसार इस नियम पर ही प्रतिष्ठित है।

अब फलोत्पत्ति के विषय में बौद्धों का मन्तव्य देखना चाहिए। वे कहते हैं कि कर्म स्वाधीन है, बीच में ईश्वर की या अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। कर्म स्वयं ही फल उत्पन्न कर सकता है। एक मनुष्य चोरी करे तो वह चोरी के प्रताप से, चोरी के फलस्वरूप स्वयं चोर बन जाता है। न्याय मतानुसार चोर कर्म के साथ ईश्वर चोर भाव अर्थात् चोरी के फल का सम्बन्ध स्थापित करता है। बौद्ध दर्शन कहता है कि चोर कर्म ही चोर भाव की उत्पत्ति करता है। चोरी एक विज्ञान है। उत्पत्ति के दूसरे क्षण ही यह विज्ञान सतत् एकरूप प्रवाहित विज्ञान प्रवाह में मिल गया ; चोर कर्म रूपी संस्कार शेष रह गया ; इस संस्कार में से दूसरे ही क्षण विज्ञान की उत्पत्ति

हुई। यह चोर भाव इस दूसरे क्षण का विज्ञान। सारांशतः पूर्व क्षण का विज्ञान चोर कर्म, पर क्षण के विज्ञान चोर भाव का उत्पादक हुआ।

संक्षेप में बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त इतना ही है कि कर्म को केवल पुरुष कृत कर्म ही न समझना चाहिए; कर्म के कारण ही संसार-प्रवाह प्रवाहित है। फल के सम्बन्ध में कर्म पूर्ण स्वाधीन है। उसमें ईश्वर या किसी अन्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।

बाह्य दृष्टि से बौद्ध और जैन दर्शन में कर्म की प्रकृति और व्यापार के विषय में अधिक भेद दिखलाई नहीं देता। जैन मतानुसार कर्म का अर्थ पुरुषकृत प्रयत्नमात्र ही नहीं है। कर्म एक विराट विश्व-व्यापी व्यापार है। इसी के कारण संसार-प्रवाह प्रवाहित है। फल के विषय में जैन कहते हैं कि कर्म पूर्ण स्वाधीन है। ईश्वर को बीच में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषकृत कर्म कभी निष्फल होता हुआ प्रतीत हो तो भी ईश्वर को बीच में फँसाने की आवश्यकता नहीं है। कर्म का फल तो अवश्य ही मिलता है; उसके मिलने में कभी अधिक विलम्ब भी हो सकता है, परन्तु कर्म का फल न मिले यह तो असम्भव है। किसी समय पापी मनुष्य सुखी और सज्जन दुःखी दिखलाई दें तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्मफल मिलता ही नहीं। एक जैनाचार्य ने कहा है—

"या हिंसावतोऽपि समृद्धिः अर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्याप्तिः सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम्। तत् क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलिष्यति इति नात्र नियतकार्यकारणभाव-व्यभिचारः॥"

हिंसक मनुष्य की समृद्धि और अर्हतपूजापरायण पुरुष की दरिद्रता का कारण क्रमशः पूर्वजन्मकृत पापानुबन्धी पुण्यकर्म और पुण्यानुबन्धी पापकर्म है। हिंसा और अर्हतपूजा, ये कर्म कभी निष्फल नहीं जा सकते। इन कर्मों का फल तो मिलता ही है, चाहे जन्मान्तर में ही क्यों न मिले। कर्म और कर्मफल में कार्यकारणभाव सम्बन्धी किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है।

जैन मतानुसार प्राणीमात्र को कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है। फलोत्पत्ति के लिए कर्मफलनियंता ईश्वर का बीच में कोई स्थान नहीं है।

उपरोक्त कथनानुसार बाह्य दृष्टि से कर्म के स्वरूप और व्यापार के विषय में जैन मत और बौद्ध दर्शन में अधिक भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु वास्तव में मौलिक भेद अवश्य है। वाक्यों में जितना साम्य है उतना अर्थों में नहीं है।

बौद्ध मतानुसार कर्म निःस्वभाव नियम है। जैन मतानुसार कर्म संसारी जीव के बन्धन का कारण है। जीव से वह कर्म पृथक है और वह एक प्रकार का द्रव्य है। इस कर्म द्रव्य के आस्रव के कारण, अनादिकालीन अशुद्धतावश जीव बन्धनग्रस्त रहता है। जैन दर्शन कर्म को केवल पुरुषकृत प्रयत्न नहीं मानता और न ही बौद्धों के समान निःस्वभाव नियम मात्र भी मानता है। कर्म वस्तुतः जड़ पदार्थ है और आत्मा के समान ही स्वाधीन एवं जीवविरोधी द्रव्य है। अंग्रेजी में जिसे Matter कहते हैं, जैन दर्शन कर्म को लगभग उसी के समान एक द्रव्य मानता है। जीव का और कर्म का स्वभाव एक नहीं है; दोनों का स्वभाव भिन्न है। जीव के साथ मिलकर कर्म उसकी बन्धनग्रस्त सांसारिक अवस्था का कारण बन जाता है। कर्म का निवारण होने से सांसारिक जीव मुक्त हो जाता है। पंचास्तिकाय में कहा गया है कि—

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति॥

जीव और कर्म पुद्‌गल परस्पर गाढ़ रूप में मिल जाते हैं। समय आने पर वे पृथक-पृथक भी हो जाते हैं। जब तक जीव और कर्म पुद्‌गल परस्पर मिलते रहते हैं तब तक कर्म सुख-दुःख देता है और जीव को वह भोगना पड़ता है।

कर्म के विषय में जैन दर्शन में खूब विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। कर्म पुद्‌गल स्वभाव Material है और कर्मरूपी अजीव द्रव्य के साथ चैतन्यरूप जीव पदार्थ किस प्रकार मिल जाता है इन सब बातों का वर्णन जैन दर्शन-कारों ने अत्यन्त उत्तम रीति से किया है। वे कहते हैं कि यह विश्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'कर्मवर्गणा' नामक कर्मद्रव्य और चेतन-स्वभाव जीव-पदार्थ से भरपूर है। जीव स्वभावतः शुद्ध, मुक्त, बुद्ध स्वभाव वाला होने पर भी रागद्वेषग्रस्त हो जाता है। इससे कर्मवर्गणा में भी एक ऐसा अनुरूप भावान्तर हो जाता है कि जिससे समस्त कर्मवर्गणा रागद्वेषाभिभूत जीव पदार्थ में आस्रव प्राप्त करती है और आस्रव के परिणामस्वरूप जीव बन्धन में पड़ जाता है। जैन शुद्ध जीव को शुद्ध जल की और कर्म को मिट्टी की उपमा देकर कहते हैं कि संसारी अथवा बन्धनग्रस्त जीवों को गदले पानी के समान समझना चाहिए। गदले पानी में से मिट्टी निकाल दें तो वह शुद्ध निर्मल जल हो जाता है। इसी प्रकार सांसारी जीव से कर्मरूपी मल दूर हो जाय तो वह जीव भी अपनी स्वाभाविक शुद्ध, मुक्त और बुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है।

जैन कर्मपुद्गल को आठ भागों में विभक्त करते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म, ये कर्म ज्ञान को ढक लेते हैं।

(२) दर्शनावरणीय कर्म, ये जीव के दर्शन गुण को आच्छन्न किए रहते हैं।

(३) मोहनीय कर्म, ये आत्मा के सम्यक्त्व अथवा चारित्र गुण को दबाए रहते हैं।

(४) अन्तराय कर्म, ये जीव की स्वाधीन शक्ति में अन्तरायरूप होते हैं।

(५) वेदनीय कर्म, इनके कारण जीव संसार में सुख-दुःख का अनुभव करता है।

(६) नामकर्म, यह कर्म जीव की देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि गति, जाति, शरीरादि का निर्माण करता है।

(७) गोत्रकर्म, इस कर्म से जीव उच्च अथवा नीच गोत्र में जन्म ग्रहण करता है।

(८) आयुष्यकर्म, यह जीव के आयुष्य का निर्माण करता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद हैं। दर्शनावरणीय के नौ भेद हैं। अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है। वेदनीय दो प्रकार का होता है। नामकर्म के ९३ भेद हैं। गोत्र कर्म २ प्रकार का होता है। आयुष्यकर्म ४ तरह का होता है। इस प्रकार आठ प्रकार के कर्म पुद्गल १४८ भेदों में विभक्त हो जाते हैं। जैन मतानुसार जीव का प्रत्येक भाव अथवा प्रकृति कर्मपुद्गल-जनित होती है। जीव-शरीर की अस्थि भी अस्थि कर्म द्वारा निश्चित होती है। जैन शास्त्रों में उपरोक्त १४८ प्रकार के कर्मों का विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों के जैन दार्शनिकों ने 'घाती' तथा 'अघाती' नाम से दो भेद किए हैं। इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घाती कर्म हैं तथा वेदनीय, नाम, आयुष्य तथा गोत्र ये अघाती कर्म हैं।

कर्म आस्रव के कारण जीव बन्धन में पड़ता है अर्थात् कर्मबन्ध कर्म का अनुसरण करता है। बन्ध की प्रकृति उपरोक्त अष्टविध कर्म प्रकृति के अनुरूप होती है। बन्ध की स्थिति का आधार कर्म की स्थिति है। किस कर्म का स्थितिकाल कितना होता है यह भी जैन दार्शनिकों ने बतलाया है। कर्म की फल देनेवाली तीव्र अथवा मन्द शक्ति पर बंध के अनुभव [रस] या 'अनुभाग' का आधार रहता है।

जैन दर्शन में कर्म को जीव विरोधी—पुद्गल स्वभावी अजीव द्रव्य माना गया है। वह जीव के साथ किस प्रकार मिलता है इसका संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया गया है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि जीव साक्षात् सम्बन्ध से कर्म विकार का कारण रूप नहीं है। इसी प्रकार कर्म भी जीव विकार का कारण रूप नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
न हि पोग्गलकम्माणं इदि जिनवयणं मुणेयव्वं ॥
कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ॥

आत्मा अपने स्वभावानुरूप कर्म करता हुआ अपने भावों का कर्त्ता रहता है। निश्चय दृष्टि से आत्मा पुद्गल-कर्म समूह का कर्त्ता नहीं है। यह जिन-वचन है।

नेमिचन्द्र इस विषय में अधिक स्पष्टतया कहते हैं—

पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु निच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धनया सुद्धभावाणं ॥

—द्रव्य संग्रह, ८

व्यवहार दृष्टि से आत्मा पुद्गल-कर्मसमूह का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा रागद्वेषादि चेतन कर्मसमूह का कर्त्ता है। शुद्ध निश्चय नय के अनुसार वह स्वकीय शुद्ध भाव समूह का कर्त्ता है।

अनंत ज्ञान, अनंत आनन्द आदि आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। शुद्ध नय के अनुसार आत्मा केवल उन समस्त गुणों का कर्त्ता अथवा अधिकारी है। सारांश यह कि शुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा के साथ कर्म पुद्गल का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि अशुद्ध अवस्था में आत्मा में रागद्वेषादि का आविर्भाव होता है।

भावनिमित्तो बन्धो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।

—पंचास्तिकाय

बन्ध में भाव निमित्त है और रति, राग, द्वेष, मोहयुक्त भाव बन्ध के कारण हैं।

राग द्वेषादि भाव प्रत्यय में से मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्पन्न होते हैं। अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा भाव प्रत्यय अथवा मिथ्यादर्शनादि पंचविध भावकर्म का कर्त्ता है। इस प्रकार अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार भी जीव कर्म पुद्गल का कर्त्ता नहीं है।

शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा कर्मपुद्गल का कर्त्ता न होने पर भी व्यवहार नय के अनुसार जीव द्रव्य बंध अथवा द्रव्य कर्म का कर्त्ता है। मिथ्यात्वादि भावकर्म के उदय से आत्मा ऐसी स्थिति में आ जाता है कि जिससे आत्मा में द्रव्यकर्म या कर्म पुद्गल का आस्रव होता है और इससे जीव बंध बाँधता है। बंध के कारण आत्मा पुद्गल कर्म के फलस्वरूप सुख-दुःखादि का भोग करता है।

उपरोक्त विवेचन से पता चलेगा कि शुद्ध निश्चय नय की बात जाने दें तो भी अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नहीं है। यह चेतन्य स्वरूप है अतएव कर्म का उपादान कारण भी नहीं हो सकता और न है। भावकर्म के कारण आत्मा में कर्म वर्गणा का आस्रव होता है इसलिए आत्मा को सीधे तौर पर—साक्षात् सम्बन्ध से आस्रव का निमित्त कारण रूप भी नहीं माना जा सकता। आत्मा मात्र अपने भावों का कर्त्ता है। निश्चय नय का यही सिद्धान्त है। इतना होते हुए भी भाव प्रत्यय अथवा भाव कर्म के उदय से आत्मा ऐसी अवस्था में आ जाता है कि जिससे कर्म पुद्गल स्वयं ही अनुपम अवस्था को प्राप्त होकर सहज में ही आत्मा में प्रवेश लाभ करते हैं। आत्मा साक्षात् रूप में उपादान कारण या निमित्त कारण न होते हुए भी परोक्ष रूप से कर्त्ता है और इसीलिए व्यवहार दृष्टि से पुद्गल कर्म का कर्त्ता माना जाता है।

यहाँ कर्म सम्बन्धी जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। न्याय दर्शन के मतानुसार कर्म का अर्थ पुरुषकृत प्रयत्न मात्र है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है। इस प्रकार के प्रयत्न का फल जब दिखलाई न दिया तब (न्याय दर्शन प्रणेता) गौतम को कर्मफल-नियन्ता ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा। उसने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कर्म के साथ फल का संयोग करना ईश्वर के अधिकार में है।

बौद्ध मतानुसार कर्म केवल पुरुषकृत प्रयत्न मात्र ही नहीं है। वह एक महान् विश्व-व्यापार—संसार नियम है। यही संसार की आधार शिला है। कर्म ही संस्कार द्वारा कर्म फल की उत्पत्ति करता है। बौद्ध कर्मफल नियन्ता ईश्वर को नहीं मानते।

जैन मतानुसार कर्म एक जागतिक व्यापार है। कर्म स्वयं ही ईश्वर से निरपेक्ष, कर्मफल उत्पन्न करने में समर्थ है। कभी-कभी चाहे किन्हीं विशेष

कारणों से कर्म का फल दिखलाई न दे या उसका अनुभव न हो, परन्तु कर्म का फल अनिवार्य है। यह जैन सिद्धान्त का सार है। जैन सिद्धान्तानुसार कर्म न तो केवल पुरुषकृत प्रयत्न ही है और न ही निःस्वभाव नियम मात्र है। कर्म पुद्गल स्वभाव अर्थात् Material है। कर्म के आस्रव से निश्चयतः शुद्ध और व्यवहार दृष्टि से अनादि बद्ध जीव पुनः बन्धन में पड़ता है। निश्चय नय के अनुसार जीव स्वयं राग द्वेषादि भावों का कर्त्ता है। जीव कर्म पुद्गल का उपादान कारण या निमित्त कारण नहीं है। तथापि राग द्वेषादि भावों के आविर्भाव से आत्मा में कर्म का आस्रव होता है। इसीलिए व्यवहार दृष्टि से आत्मा को कर्म पुद्गल का कर्त्ता कहा जाता है। कर्म के भी घाती और अघाती ये दो प्रकार हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय इत्यादि भेद से कर्म आठ प्रकार का और श्रुतावरणीय, चारित्रमोहनीय आदि भेद से कर्म १४८ प्रकार का होता है। इन सब कर्मों का मूलोच्छेदन होने पर आत्मा निज स्वभाव में रमण करता है—अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

अमर भारती || जुलाई १९८१

उपाध्याय श्री अमरमुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'साधना का निष्कर्ष समभाव, कल्पना का स्वर्ग या स्वर्ग की कल्पना' (सौभाग्यमल जैन), 'भारतीय संस्कृति में तप साधना' (डा० सागरमल जैन)।

जिनवाणी || जुलाई १९८१

आचार्य श्री हस्तीमल जी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'इनकी जिन्दगी : आपका फेशन' [२] (श्री हर्षवर्द्धन), 'स्थानकवासी परम्परा के राजस्थानी कवि' [१] (डा० नरेन्द्र भानावत), 'जैन दर्शन में ज्ञानवाद' [५] (श्री रमेश मुनि शास्त्री)।

तीर्थंकर || जून १९८१

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'हाथी : स्वप्न के यथार्थ' (डा० नेमीचन्द जैन), 'जैन संघ : संभावनाएँ अनेक, प्रयत्न शून्य' (यशपाल जैन), 'एक अविस्मरणीय परिसंवाद' (लीलावती जैन), 'जैन कहें किसे ?' (डा० नेमीचन्द जैन), 'हिलता हुआ मानस्तम्भ : अब शौचालय' (मुनि सुखलाल)।

श्रमण || जून १९८१

इस अंक में है 'जैन आचार में इन्द्रिय दमन की मनोवैज्ञानिकता' (रतनचन्द जैन), 'जैन दर्शन में आत्मा' (मंगला दुगड़), 'सोमदेव सूरि की अर्थनीति—एक समाजवादी दृष्टिकोण' (कृष्ण मुरारी पाण्डेय), 'उपरीयाली का विख्यात जैन तीर्थ' (भूरचन्द जैन), 'जैन दर्शन में प्रमाण' (डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा)।

Vol. V No. 4 : Titthayara : August 1981
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture
for
Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD
CALCUTTA-700001